

आलोचनात्मक चिन्तन के क्या मायने हैं ? वे प्रक्रियाएं क्या हो सकती हैं जिनके जरिए किसी को आलोचनात्मक होना सिखाया जा सकता है ? क्या इसे कुछ खास जानकारियां देने या महज कुछ अभ्यासों के जरिए अर्जित किया जा सकता है या इससे कुछ भिन्न की आवश्यकता है ? कक्षा-कक्षीय प्रक्रियाओं में एक शिक्षक के लिए किस तरह की चुनौतियां हो सकती हैं ? यह लेख इन तमाम सवालों पर विचार करता है।

आलोचनात्मक बनना सिखाना

जॉन पासमोर

किसी बच्चे को आलोचनात्मक होना सिखाना आखिर होता क्या है और इसमें सफल हुए हैं या नहीं, यह पता कैसे चल सकता है ? क्या यह तथ्यों की जानकारी देने का मसला है या फिर कौशलों में प्रशिक्षण का, क्षमताएं विकसित करने का, चरित्र निर्माण का या यह इन सबसे कुछ भिन्न ही बात है ?

यह तो साफ है कि यह मसला तथ्यों की जानकारी देना नहीं है। बेशक कोई शिक्षक अपने छात्रों को आलोचना के अभ्यास संबंधी कई तरह के तथ्य दे सकता है, ऐसा करना लोकतंत्र के लिए आवश्यक भी है। ऐसा करना विज्ञान के विकास के लिए भी जरूरी है, आदि-इत्यादि। शिक्षक उन्हें सुकरात या गेलीलियो की कथाएं सुना सकता है। शायद वह ऐसा आलोचना संबंधी तथ्यों की

लेखक परिचय

ऑस्ट्रेलिया के जाने-माने दार्शनिक (1914-2004), ऑस्ट्रेलिया के विभिन्न विश्वविद्यालयों में दर्शनशास्त्र का अध्यापन।

जानकारी देते हुए कर सकता है या वह आलोचनात्मक भाव के विख्यात प्रतिनिधियों की कहानियां सुना सकता है। ऐसा करना बच्चों को आलोचनात्मक बनने के प्रति प्रोत्साहित करने में उपयोगी भी सिद्ध हो सकता है। परन्तु कम से कम इतना तो साफ है : इस प्रकार की जानकारियां देना उन्हें आलोचनात्मक बनाने के लिए पर्याप्त नहीं है। ठीक उसी तरह जैसे व्यावसायिक संबंधों में ईमानदार बनाने के लिए उन्हें संबंधित तथ्यों की जानकारी देना या उन्हें ईमानदार लोगों की कहानियां सुनाना नाकाफी होता है। आलोचनात्मक होना, आलोचना संबंधी कुछ तथ्यों को हासिल करने से न केवल तार्किक रूप से बल्कि यथार्थतः भी अलग है।

तो फिर क्या आलोचनात्मक होना एक आदत है ? इस प्रश्न का कोई सरल-सीधा उत्तर नहीं है। क्योंकि 'आदत' शब्द का उपयोग कई बार व्यापक अर्थ में किसी भी प्रकार के नियमित आचरण के लिए होता है जो अनुभव के दौरान अपना लिया जाता है। फिर चाहे वह दबाव के क्षणों में सिर खुजाना हो या फिर किसी उपकरण का बुद्धिमत्ता से उपयोग करना या फिर अच्छे निर्णय लेना हो। अतः विलियम जेम्स अपनी पुस्तक 'द प्रिंसिपल्स ऑव साइकॉलोजी', के 'आदत' संबंधी अध्याय में जिसे वे 'फैसला करने की शक्ति' (द पावर ऑव जजिंग) को भी एक आदत ही कहते हैं।

पर साथ ही जेम्स यह भी कहते हैं कि 'आदत उस सचेतन ध्यान को कम करती है जिसके साथ हम अपने कर्म करते हैं' और आदतन किए गए किसी कर्म में महज अनुभूति ही पर्याप्त मार्गदर्शक होती है। इस प्रकार परिभाषित आदतों के उदाहरण हम सभी दे सकते हैं। एक सरल उदाहरण है स्कूल में सीखी गई आदत, जिसमें बच्चा 'मेर्सी' (फ्रांसीसी भाषा में धन्यवाद) का तर्जुमा 'थैंक यू' में करता है। हालांकि प्रारंभ में उसे यह सोचना पड़ता है कि वह क्या कर रहा है, पर बाद में किसी पुस्तक में 'मेर्सी' शब्द आता है तो- 'महज अनुभूति' उसे 'थैंक यू' में भाषान्तरित कर देती है।

अब किसी कुशल अनुवादक का उदाहरण लें जो एक अच्छे अभ्यास वाले स्कूली बालक से भिन्न है। कुशल अनुवादक स्वतः ही 'मेर्सी' को 'थैंक यू' नहीं अनुदित करेगा। वह कभी उसे 'थैंक्स' या 'टा' में भी अनुदित कर सकता है। वह सतर्कता के स्तर को सायास ध्यान के स्तर को बनाए रखता है, जो उस व्यक्ति से भिन्न है जो केवल आदतन काम करता है। यही एक कुशल सुप्रशिक्षित व्यक्ति की विशेषता है जो अभ्यासवश कुछ करने वाले और उसमें अंतर दर्शाता है। यह कि 'महज अनुभूति' उसके लिए किसी कर्म को करने का पर्याप्त मार्गदर्शक नहीं होती।

बेशक, किसी भी कौशल के कुछ आदतन घटक भी होते हैं। उदाहरण के लिए अनुवादक, कैसे पढ़ा जाए के बारे में नहीं सोचता, वह शब्द के रूप में 'मेर्सी' पर स्वतः प्रतिक्रिया करता है, वह ठहर कर यह नहीं सोचता कि कागज पर कहीं कुछ लकीरें ही तो नहीं उकेरी गई हैं। पर जो उसे कुशल अनुवादक बनाता है वह यह है कि वह स्वतः ही, बिना सोचे-विचारे एक फ्रांसीसी शब्द पर, 'महज अनुभूति' के आधार पर प्रतिक्रिया नहीं करता। अतः एक कौशल को हासिल करना ठीक वैसा नहीं होता जैसा एक आदत डालना होता है। हालांकि सामान्यतः किसी कौशल को हासिल करने के पहले कुछ आदतें हासिल करना आवश्यक होता है।

जेम्स एक पुराने सैनिक की कहानी बताते हैं, जो अपना रात्रि भोजन घर ले जा रहा था। किसी मसखरे ने जोर से 'सावधान!' कहा। सैनिक फौरन खाना गिरने देकर, सावधान की मुद्रा में खड़ा हो गया। हम ऐसे किसी व्यक्ति की कल्पना करें जिसे इस बात का लगातार इतना अभ्यास करवाया गया हो कि वह किसी भी कथन की प्रतिक्रिया स्वरूप 'मैं इस पर सवाल करता हूं!' कहे, फिर चाहे यह प्रतिक्रिया उस संदर्भ में कितनी भी अनुचित क्यों न हो। ऐसे व्यक्ति के लिए कहा जा सकता है कि उसे प्रश्न करने की आदत पड़ गई है। परन्तु इस व्यक्ति ने निश्चित रूप से आलोचना करना नहीं सीखा होगा। इस दृष्टांत में जो व्यक्ति है वह काल्पनिक है परन्तु ऐसे वास्तविक दृष्टांत भी हैं जो इससे अधिक भिन्न नहीं हैं।

किसी व्यक्ति को रटी-रटाई आलोचनात्मक टिप्पणियां करने का अभ्यास करवाया जा सकता है। उसे सिखाया जा सकता है कि वह अमूर्त चित्रकला को जब भी देखे या जैज संगीत सुने, तो कहे कि 'यह तो पतनशील है।' या जब भी वह किसी खास किस्म के दार्शनिक विचार को सुने तो कहे : 'यह उन्नीसवीं शताब्दी का भौतिकवाद है' या 'यह पुरातनपंथी बुद्धिवाद है।' ऐसे व्यक्ति को आलोचनात्मक होना नहीं सिखाया गया है।

छात्रों को तयशुदा प्रतिक्रियाएं करने का अभ्यास करवाने की प्रक्रिया का सही वर्णन है 'मतदीक्षित' (इन्डॉक्ट्रिनेशन) करना। यह कहना बेवकूफी है कि 'बच्चों को पहाड़े सिखाकर, उन पर मतारोपण किया जाता है। हालांकि ऐसा कहा गया है। बेवकूफी ठीक उन्हीं कारणों से है, जिन कारणों के चलते हम किसी से यह कहना बेवकूफी मानेंगे कि उसका सिद्धांत है कि $2 \times 2 = 4$ है।' जेम्स के उदाहरण में पुराना सैनिक मतदीक्षित नहीं था। उसे तो केवल अभ्यास करवाया गया था। मतारोपण एक विशेष प्रकार का अभ्यास होता है जिसमें छात्र को - उदाहरण के लिए, प्रश्नोत्तरों की विधा से- सिद्धांतों पर सामान्यतः उठाई जाने वाली आपत्तियों के, रटे-रटाए उत्तरों का अभ्यास करवाया जाता है। फिर भी अगर मतदीक्षा (इन्डॉक्ट्रिनेशन) एक विशेष प्रकार का अभ्यास है, तो भी वह एक तरह का अभ्यास तो है ही।

बार-बार दोहराव के अभ्यास से किसी बच्चे को पहाड़े, फ्रांसीसी भाषा की अनियमित क्रियाएं (वर्ब्स), कोई धार्मिक या राजनीतिक प्रश्नोत्तरी, किसी गाड़ी में आई गड़बड़ को किस क्रम से जांचना चाहिए या किसी रासायनिक घोल में कौन से लवण मिश्रित किए गए हैं को जांचना सिखाया जा सकता है। परन्तु किसी व्यक्ति को कविता का रसास्वादन करना या अच्छा अनुवाद करना या किसी नई किस्म की गाड़ी के खोट तलाशना या स्वीकृत रासायनिक प्रक्रियाओं में संशोधन करने का अभ्यास नहीं करवाया जा सकता। न ही उसे आलोचनात्मक बनने का अभ्यास करवाया जा सकता है।

तो फिर क्या हमें यह कहना चाहिए कि आलोचनात्मक बनना एक कौशल है जिसे सिखाया जा सकता है जैसे अमूमन कौशल, साधारण अभ्यास के विपरीत प्रशिक्षण द्वारा सिखाए जाते हैं ? बेशक ऐसी किताबें भी हैं जो आलोचनात्मक चिन्तन सिखाने का दावा करती हैं, ठीक उसी तरह जैसे कुछ किताबें हमें वाहन चलाना सिखाने का भी दावा करती हैं।

पर मान लें कि किसी स्नातकपूर्व छात्र ने मैक्स ब्लैक की 'क्रिटिकल थिंकिंग' को पढ़ लिया है और उसे ठीक से समझ लिया है। मान लें कि वह उन सभी समस्याओं को हल कर पाता है, जो ब्लैक ने अपने पाठकों के लिए रखी हैं और ब्लैक की पुस्तक की विषयवस्तु संबंधी उन सभी प्रश्नों का उत्तर भी वह दे सकता है जो हम उससे

पूछें। पर ब्लैक जो कुछ भी कहता है वह उसकी सच्चाई पर पल भर को भी शंका नहीं करता और ब्लैक के कहे को कंठस्थ करके तथा अभ्यास संबंधी ब्लैक के सुझावों की बारीक अनुपालना करके वह संतुष्ट हो जाता है। अर्थात् वह जो कुछ पढ़ता है उसके प्रति उसका श्रद्धाभाव बदलता नहीं है। अर्थात् उसे यह सूझता ही नहीं है कि वह सीखे गए कौशलों का उपयोग ब्लैक द्वारा दिए गए सवालों के अलावा अन्यत्र कहीं करे। क्या ऐसे व्यक्ति ने आलोचनात्मक बनना सीखा है ? जाहिर है कि इसका जवाब नकारात्मक ही होगा।

बेहतर वाहन चालन नामक पुस्तक को पढ़ लेने वाले से हम इस विषय में मन चाहे प्रश्न पूछ सकते हैं। संभव है कि वह पढ़ने के बाद पहले से बेहतर चालक बने बिना ही उनके जवाब भी दे दे। इन परिस्थितियों में हमें यह इंकार करने में कोई हिचक नहीं होगी कि उसने वाहन चालन के अपने कौशल को सुधारा है। वाहन चालन का कौशल, वाहन चालन संबंधी पुस्तक पढ़ने से बिलकुल भिन्न कौशल है। फिर स्थिति क्या इतनी भर है कि : ब्लैक की क्रिटिकल थिंकिंग पढ़ने वाले मेरे काल्पनिक छात्र- जो इतना काल्पनिक भी नहीं है- ने ब्लैक को कैसे पढ़ना और उसके द्वारा दिए गए अभ्यासों को करना तो सीख लिया है। पर उसमें आलोचनात्मक चिन्तन के कौशल का अभाव है। ठीक उसी तरह जैसे बैटर ड्राइविंग को पढ़ लेने वाले व्यक्ति ने उस पुस्तक में पूछे गए प्रश्नों का जवाब देना तो सीख लिया हो पर उसमें चालन के कौशल का अभाव फिर भी बना रहा हो।

परन्तु ये दोनों उदाहरण सदृश नहीं हैं। आलोचनात्मक चिन्तन जिस हद तक एक कौशल है, उसका एक घटक है उस प्रकार की समस्याओं को हल करना जैसी ब्लैक ने पुस्तक में अपने पाठकों के लिए दी हैं। ठीक इस अर्थ में 'बेहतर वाहन चालन' पुस्तक का लेखक जैसे प्रश्न अपने पाठकों से पूछता है, वह वाहन चालन के कौशल का घटक नहीं है। कोई व्यक्ति इस प्रश्न का कि 'एक पहाड़ी के ढलान पर उतरने के पहले आपको क्या करना चाहिए ?' का जवाब यह दे सकता है : 'एक निचले गियर पर आना चाहिए।' पर उसे यह उत्तर देने के लिए कुशल वाहन चालक होने की दरकार नहीं है। परन्तु इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए कि 'निम्नोक्त तर्क में भ्रम या विरोधाभास कहां है ?' व्यक्ति में कुछ आलोचनात्मक कौशल तो होना ही होगा, क्योंकि इसके बिना वह जवाब दे ही नहीं सकता। अगर आलोचनात्मक होने का मतलब केवल किसी कौशल को पाना होता तो फिर ब्लैक की रचना क्रिटिकल थिंकिंग को पढ़-समझ लेने का अर्थ भी आलोचनात्मक चिन्तन के कौशल को कुछ हद तक हासिल कर लेना होता। परन्तु हम जिस प्रकार तर्क कर रहे हैं वह यह सुझाता है कि ब्लैक की पुस्तक को, हम कतई आलोचनात्मक बनना सीखे बिना भी समझ सकते हैं।

'आलोचनात्मक होना' एक कौशल के बजाय जिसे हम 'चारित्रिक विशेषता' कहते हैं के अधिक समान होता है। किसी व्यक्ति को आलोचनात्मक कहना उसका चारित्रिक वर्णन करना, उसकी प्रकृति का वर्णन करना होता है। अगर हम उसका वर्णन 'एक विशेष प्रकार के विरोधाभास का विश्लेषण करने की क्षमता रखने वाला' कहकर करें तो हम उसकी प्रकृति का वर्णन नहीं करते। 'वह कैसा व्यक्ति है ?' प्रश्न का स्वाभाविक उत्तर होगा 'बेहद आलोचनात्मक'; पर यह उत्तर उस समय स्वाभाविक नहीं होगा जब उक्त व्यक्ति एक कुशल वाहन चालक हो।

प्लेटो ने संकेत किया था कि कौशल 'विपरीतता या परस्पर विरोधी स्थितियों से निपटने की क्षमताएं' हैं। एक कुशल वाहन चालक अपने कौशल का उपयोग स्वयं को किसी खतरनाक स्थिति से उबारने के लिए भी कर सकता है। इसी प्रकार तर्कदोष को पहचानने की विशेषता रखने वाला अपने कौशल का प्रयोग सत्य तक पहुंचने के अनासक्त प्रयास के बजाय अपने तर्कदोषों को छिपाने के लिए, उनसे ध्यान हटाने के लिए भी कर सकता है। सुकरात द्वारा सोफिस्टों (वितण्डावादियों) पर आपत्तियां करने के कारणों में एक यह भी था कि वे अपने छात्रों को ठीक इसी प्रकार का कौशल सिखाते थे।

इसके विपरीत, आलोचनात्मक शक्ति (स्परिट) का, जिसे शिक्षक प्रोत्साहित करना चाहता है, दुरुपयोग नहीं किया जा सकता। बेशक, जिनमें यह शक्ति होती है, वे आलोचना का अभ्यास करते समय, जो मत दरअसल सही हो उसे त्याग सकते हैं। ठीक उसी तरह जैसे कोई न्यायपूर्ण व्यक्ति उस मामले में न्याय संगत बनने के प्रयास में गलत निर्णय ले सकता है जिसमें अगर उसने पक्षपात किया होता तो वह सही निर्णय ले पाता। (इसके उदाहरण श्री ऑलवर्दी ने टॉम जोन्स के साथ जो आचरण किया उसमें मिलते हैं।) पर यह उस स्थिति से भिन्न है जिसमें कोई न्यायाधीश के रूप में सीखे गए कौशलों का उपयोग न्याय के पक्ष को भ्रष्ट करने के लिए करे। किसी न्यायाधीश के कौशलों या किसी आलोचक के कौशलों का उपयोग या दुरुपयोग हो सकता है। परन्तु न्याय या आलोचनात्मक शक्ति का न तो उपयोग न दुरुपयोग किया जा सकता है। वह इसलिए क्योंकि न तो न्यायपूर्ण बनना, न ही आलोचनात्मक होना, कौशल हैं।

अगर यह सच है कि आलोचनात्मक होना एक चारित्रिक विशेषता है, तो यह भी आसानी से समझा जा सकता है कि शिक्षकों के लिए अपने छात्रों को आलोचनात्मक बनना सिखाना व्यवहारिक रूप से इतना कठिन क्यों है। जो शिक्षण चारित्रिक विशेषता को विकसित करने का प्रयत्नशील हो उसे काफी हद तक मिसाल तथा जिसे

अक्सर 'स्कूल का वातावरण' कहा जाता है, उस पर निर्भर करना पड़ता है। स्कूल या शिक्षक का चरित्र चाहे जो हो, यह स्वीकार करना होगा कि, कोई असाधारण छात्र - जो किसी भी रूप में असाधारण हो, पर इस वर्णन में उसकी नैतिक श्रेष्ठता का निहितार्थ न हो - उनके विरुद्ध प्रतिक्रिया कर सकता है। परन्तु उदाहरण के लिए, जिस स्कूल में शिक्षक तयशुदा पाठ्यचर्या से कभी भटकते नहीं, जिसमें शिक्षक व छात्र, दोनों ही परंपरागत मानकों से प्रत्येक विचलन पर भृकुटि तान लेते हैं, वहां छात्रों में मौलिकता को प्रोत्साहित करने की संभावना नहीं होती। हालांकि इसका नतीजा यह हो सकता है कि उसके छात्र सु-अभ्यासित (वैल ड्रिल्ड) हों और एक सीमा में बेहद कुशल भी।

स्कूली जीवन की स्थितियां जैसी होती हैं उनमें एक शिक्षक के लिए अपने छात्रों के समक्ष शिष्टता, न्याय, सत्कार जैसे गुणों का उदाहरण प्रस्तुत करना कठिन होता है। परन्तु आलोचनात्मक शक्ति का उदाहरण प्रस्तुत करना तो और भी कठिन होता है। इस दृष्टांत में कठिनाइयां केवल शिक्षक की व्यक्तिगत त्रुटियों से नहीं उभरतीं - उदाहरण के लिए, उसके इस भय से कि वह ऐसी कक्षा को संभालने में असमर्थ है जिसमें आलोचनात्मक शक्ति जग चुकी हो - बल्कि, उसकी रोजगार की स्थितियों से कहीं अधिक उभरती हैं।

बेशक, स्वयं वह शिक्षक, अपने रोजमर्रा के काम में अपरिहार्य रूप से आलोचनात्मक ही होगा - अपने छात्रों की आलोचना करेगा, अपने द्वारा पूछे गए प्रश्नों के छात्रों के उत्तरों की आलोचना करेगा, जो काम छात्र करके दें उसकी आलोचना करेगा, उनके आचरण की, और जिन सिद्धांतों से उनका आचरण निर्देशित होता है उसकी आलोचना करेगा। अगर 'आलोचनात्मक व्यक्ति' से हमारा अर्थ इससे अधिक कुछ नहीं कि वह व्यक्ति जो कुछ उसके सामने आए उसकी कमियों की ओर ध्यान दिलाए, तो फिर एक शिक्षक आलोचनात्मक होने से बच ही नहीं सकता। इसमें भी कोई शक नहीं कि उसके कई छात्र एक हद तक उसकी नकल भी करेंगे। वे उसके आलोचनात्मक मानदंडों को अपना लेंगे और उन्हें स्वयं अपने तथा अपने सहपाठियों के आचरण पर लागू करेंगे।

पर होता यह है कि सामान्यतः शिक्षक अपने छात्रों का ध्यान तयशुदा मानकों से विचलन की ओर आकर्षित करके संतुष्ट हो जाता है : स्वीकृत विधि से गणित के सवाल हल कर पाने, स्कूल के नियमों का अनुपालना न कर पाने, शेक्सपियर के विषय में सही बातें बता न पाने, फिल्टर पेपर को स्वीकृत तरीके से न मोड़ पाने में उनकी असफलता की आलोचना करेगा। इन सभी पक्षों में वह अपने छात्रों के प्रति बेहद आलोचनात्मक हो सकता है। वह बड़े

उत्साह से, बल्कि दुराग्रह से, प्रत्येक उस बिन्दु पर उनकी तब आलोचना कर सकता है जब वे स्वीकृत मानकों से विचलित हों। ऐसा कर वह अपने छात्रों में भी उसी प्रकार का उत्साह, उसी प्रकार की मतांधता जगा सकता है। यह सब वह जिस अर्थ में हम आलोचनात्मक व्यक्ति को फिलहाल ले रहे हैं, उस अर्थ में आलोचनात्मक व्यक्ति हुए बिना भी कर सकता है। शिक्षा की सत्तावादी प्रणालियां सामान्यतः ऐसे ही छात्रों का उत्पादन करती हैं जो बेहद आलोचनात्मक हों पर केवल उन लोगों के प्रति जो मान्यताओं का स्वीकृत नियमों का, स्वीकृत कार्य विधियों का पूर्ण अनुपालन नहीं करते।

इस प्रकार की आलोचनात्मक क्षमता एक कौशल है। उस प्रकार का कौशल जो किसी दक्ष टेनिस खिलाड़ी के विपरीत किसी दक्ष दैनिक प्रशिक्षक (कोच) में हो, प्रत्येक विशेषज्ञ में उसकी विशेषज्ञता के हिस्से के रूप में, स्वयं अपने तथा दूसरों के प्रदर्शन की आलोचना-विवेचना करने की क्षमता होती ही है। परन्तु शिक्षकों में यह क्षमता एक कौशल के स्तर तक उठ जाती है। जब हम किसी व्यक्ति को 'बेहद आलोचनात्मक' कहते हैं, तब हम अक्सर उस व्यक्ति के लिए यह सुझाते होते हैं कि वह ऐसा व्यक्ति है जिसे उसके शत्रु 'झगड़ालू' या 'घमण्डी' या 'पंडिताऊ' या 'नकचढ़ा' कहें। जो अपने इर्दगिर्द के लोगों से यह मांग करता हो कि वे भी उसी का अनुपालन करें जिसे वह 'ऊंचे स्तर' मानता है। प्रत्येक समाज में, काफी हद तक, यही शिक्षक की रूढ़ि है। हालांकि 'उच्च स्तर' क्या है, के संबंध में जो धारणा है वह एक से दूसरे समाज में काफी भिन्न होती है। यह रूढ़ि अनुचित भी नहीं है। कोई भी सक्षम शिक्षक अपने छात्रों से उन कौशलों में उच्च स्तर के प्रदर्शन की मांग करता है, जिन्हें वह सिखा रहा हो। वह फूहड़पन, आलस, संतुष्ट मध्यस्तरीयता को नापसंद करता है। परन्तु अपने छात्रों को उच्च स्तरीय कौशल सिखाने या छात्रों को स्वयं अपने व सहपाठियों के प्रदर्शन को आलोचनात्मक दृष्टि से जांचने को प्रोत्साहित करने के साथ, वह शिक्षक मेरे विचार से, स्वतः ही उनमें इस आलोचनात्मक शक्ति को फलीभूत नहीं करता जो किन्हीं विशिष्ट प्रदर्शनों की आलोचना करने की क्षमता से भिन्न है। क्योंकि आलोचनात्मक शक्ति को दर्शा पाने के लिए व्यक्ति को इस संभावना के प्रति भी सजग रहना पड़ता है कि स्थापित मानकों को अस्वीकार करना चाहिए, कि नियमों को बदल डालना चाहिए, प्रदर्शन को जांचने के मानदंड संशोधित किए जाने चाहिए। या शायद प्रदर्शन की विधि को ऐसा होना ही नहीं चाहिए।

उदाहरण के लिए, फेगिन ने अपने युवा चोरों को स्वयं के और अपने उन जेबकतरे साथियों के प्रदर्शन की विवेचना-आलोचना करना सिखाया था। कोई सत्तावादी समाज अपने शिक्षकों के माध्यम से

अपनी युवा पीढ़ी को अपधर्म की आलोचना में विशेषज्ञ बना सकता है। पर न तो फ़ैगिन, न ही वह सत्तावादी समाज यह चाहेगा कि युवकों में उनके तौर-तरीकों के प्रति आलोचनात्मक नजरिया विकसित हो - बल्कि वे इसका ठीक उल्टा ही चाहेंगे।

इसके विपरीत किसी बालक को आलोचनात्मक बनना सिखाना, उसे उस प्रदर्शन के मूल्य को आलोचनात्मक दृष्टि से देखने को प्रोत्साहित करता है जिसे करना उसे सिखाया जाता है। यह बात उससे भिन्न है कि उसने प्रदर्शन में उपलब्धि का कौन-सा स्तर हासिल किया है। जिन समाजों में आलोचना फलती-फूलती और विकसित होती है उनकी विशेषता यह है कि वे आलोचना होने पर उस प्रकार के प्रदर्शनों का त्याग कर देते हैं। उदाहरण के लिए, आलोचना होने पर वे जल्लादों के कौशल स्तर में इजाफा चाहने के बजाय फांसी की प्रथा को ही त्याग देते हैं। इस अर्थ में जो व्यक्ति आलोचनात्मक हो, उसमें उस प्रकार की पहल करने की शक्ति, स्वतंत्रता, साहस, कल्पनाशीलता होनी चाहिए जो किसी प्रयोगशाला तकनीकविद के कुशल आलोचक में पूरी तरह नामौजूद हो।

तकनीकों के आलोचक की पेशेवर कुशलता से भिन्न किस्म की आलोचनात्मक शक्ति को प्रोत्साहित करने के लिए एक शिक्षक को अपने छात्र में आलोचनात्मक चर्चा के आदान-प्रदान के प्रति उत्साह विकसित करना पड़ता है। कभी वह ऐसा औपचारिक वाद-विवादों के लिए समय तय करके करता है। परन्तु वाद-विवाद वास्तविक आलोचनात्मक शक्ति को प्रोत्साहित करने के बदले - नैयायिक कौशल को विकसित करता है। बालक आलोचनात्मक बनने को केवल तब ही प्रोत्साहित होता है जब वह पाए कि उसे और उसके शिक्षक दोनों को ही किसी भी समय जो कुछ भी वे कहें उसका बचाव करने को कहा जा सकता है। अर्थात् जब उन्हें अपने कथन के पक्ष में प्रासंगिक पृष्ठभूमि प्रस्तुत करने को कहा जाए। ऐसा कर पाना, उस स्थिति से भिन्न है जब उसे किसी वाद-विवाद में किसी एक पक्ष के लिए कुछ तर्क प्रस्तुत करने को कहा जाए।

आलोचनात्मक चर्चा को प्रोत्साहित करने में कठिनाई यह है कि निश्चित रूप से शिक्षक की भी अनेक ऐसी मान्यताएं होंगी जिनकी समालोचना के लिए वह तैयार न हो और वह ऐसे कई नियम भी लागू करता ही होगा जिनके विषय में भी ठीक यही कहा जा सकता है। ये मान्यताएं और नियम उन विषयों से घनिष्ठ रूप से जुड़े हो सकते हैं जिनकी आलोचनात्मक चर्चा छात्र खासतौर से करना चाहते हों। उदाहरण के लिए, यौन (सैक्स) या धर्म तथा राजनीति। अगर शिक्षक इन प्रश्नों पर चर्चा की अनुमति नहीं देता, अगर वह नाराजगी भरी प्रतिक्रिया करता है या स्तंभित नापसंदगी जाहिर करता है तो छात्रों में आलोचनात्मक वृत्ति/शक्ति प्रोत्साहित कर

पाने की संभावना भी नहीं रहती। अगर आलोचनात्मक होने का अर्थ केवल एक कौशल का उपयोग करना होता, तब उसे सिद्धांततः ऐसे शिक्षकों द्वारा भी सिखाया जा सकता जो इसके उपयोग की अनुमति एक खेल या एक रक्षा उपाय के अलावा कभी न देते। यह स्थिति किसी ऐसे अचूक निशानेबाज की सी होती जो अहिंसावादी हो, पर जो सैनिकों को बंदूक से निशाना साधना सिखा सकता हो। पर सच्चाई यह है कि आलोचनात्मक बनना केवल ऐसे लोग ही सिखा सकते हैं जो स्वयं खुलकर आलोचनात्मक चर्चा में भाग लेते हैं।

दूसरे, अगर शिक्षक स्वयं आलोचनात्मक हो भी, तब भी उस पर ऐसे सामाजिक दबाव हो सकते हैं कि वह यह स्वीकार ही न करे कि कुछ विश्वासों, कुछ आचरणों, कुछ सत्ताओं को आलोचनात्मक दृष्टि से ठीक से जांचा जा भी सकता है। ए.सी. मैकिन्टायर ने सुझाया था कि 'तार्किक आलोचना' के छानबीन के मूल्य प्रचलित सामाजिक मूल्यों से स्पष्टतः विपरीत होते हैं'। यहां 'प्रचलित' शब्द एक अतिशयोक्ति को छिपा सकता है। किसी भी समाज में तार्किक आलोचनात्मक छानबीन प्रधान सामाजिक शक्ति नहीं होती। ऐसी छानबीन का प्रत्येक समाज में विरोध होता है। परन्तु समाजों में अंतर होता है। हमारा अपना समाज आलोचनात्मक परख की न केवल कहने मात्र के लिए प्रशंसा करता है बल्कि कुछ हद तक उसे मूल्यवान भी मानता है। अतः जो शिक्षक आलोचनात्मक शक्ति को प्रोत्साहित करता है वह पूर्णतः एकाकी नहीं होता। पर उसे जीवन इतना दुश्वार तब न लगे जब वह केवल उन विषयों की आलोचना की छूट दे जिन्हें सामान्यतः आलोचना के उपयुक्त विषय माना जाता है - जैसे ज्योतिष की, पर ईसाई धर्म की नहीं, स्वच्छंद यौनाचार की पर एक विवाहवाद की नहीं।

तीसरी कठिनाई इस तथ्य से उपजती है कि अक्सर शिक्षक का प्रशिक्षण उसमें आलोचनात्मक चर्चा में भागीदारी की इच्छा को प्रोत्साहित नहीं करता। कुछ मामलों में तो यह बिलकुल स्पष्ट नजर आता है। क्यूबेक के कॉलेजों के एक रोमन कैथेलिक आलोचक ने शिक्षकों के बारे में कुछ इस प्रकार लिखा है : गिरजाघर विषयक जगत में किसी उच्च अधिकारी के शिक्षण तथा धर्म-सिद्धांत संबंधी कथन बिना प्रश्न उठाए ही सर्वाधिक प्रबल तर्कों के रूप में स्वीकार लिए जाते हैं। पादरी दरअसल चर्चा के लिए प्रशिक्षित ही नहीं होते...। वे अपने छात्रों को अपना ही प्रतिबिम्ब बनाते हैं। उन्हें स्वतंत्रता या पहल पर लगाम न लगाना कठिन लगता है।

सार्वजनिक शिक्षा की कई प्रणालियों में शिक्षक-प्रशिक्षण का मुख्य उद्देश्य ऐसे शिक्षक तैयार करना होता है जो सख्ती से खुली

आलोचनात्मक चर्चा को हतोत्साहित करें। क्योंकि सभी सत्तावादी स्कूलों में, चाहे वे धर्म निरपेक्ष हों या धार्मिक हों, शिक्षक स्वयं को सफल तब ही मानता है जब, उसके छात्र स्कूल छोड़ते समय कुछ ऐसे विश्वासों के साथ निकलें जिन्हें कोई भी भावी अनुभव डिगान न सके। वे कुछ आदतों के प्रति इतने कटिबद्ध हों कि उनमें किसी भी प्रकार का संशोधन उनमें भारी अपराध-बोध जगाए। उनमें सत्ता के प्रति आदर की ऐसी भावना हो कि वे बिना प्रश्न उठाए आज्ञा का पालन करें। परन्तु लोकतांत्रिक समाजों में भी शिक्षक-प्रशिक्षण में कुछ ऐसी बातों पर बल दिया जा सकता है कि शिक्षक, यह सोचने लगे कि उसका मुख्य काम कक्षा में मौन बनाए रखना, उस दिन के निर्धारित पाठ को “किसी तरह समाप्त” करना, पाठ्यचर्या से चिपके रहना और छात्रों को तयशुदा परीक्षाओं के लिए तैयार करना है। ऐसी प्रणालियां जिस आदर्श शिक्षक को तैयार करती हैं, उनका वर्णन कुछ इस प्रकार किया गया है :

‘वे अपने प्रयास छात्रों को परीक्षाओं के लिए तैयार करने पर केन्द्रित करते हैं...; वे ठीक उन विषयों को काम में ली जा रही पाठ्यपुस्तकों के मार्गदर्शन में पढ़ाते हैं, जिनका पाठ्यक्रम में उल्लेख होता है और यह प्रयास करते हैं कि बच्चों के लिए राह सरल बन सके; वे निरीक्षक तथा प्राचार्य के निर्देशों की अनुपालना प्रसन्नचित्त होकर, उस हद तक करते हैं जिस हद तक वे उन्हें समझ पाते हैं।’ ऐसे शिक्षक अपने छात्रों में आलोचनात्मक चिन्तन को प्रोत्साहित करेंगे इसकी संभावना कम है।

जॉन डिवी का प्रारंभिक शैक्षिक लेखन अधिकांशतः शिक्षक के कार्य की इसी धारणा के विरुद्ध था। डिवी के शैक्षणिक विचारों को साकार करने के लिए जो ‘प्रगतिशील स्कूल’ बनाए गए, उनका मुख्य सिद्धांत यह था कि न शिक्षक, न ही विषय छात्रों पर हावी हो। परन्तु डिवी स्वयं इस नतीजे से चिंतित हुए : ‘मुझे विश्वास है कि आप इस बात का अर्थ समझेंगे’, उन्होंने लिखा, ‘जब मैं कहता हूँ कि कई नए स्कूल अध्ययन की व्यवस्थित विषयवस्तु को कम या कुछ भी महत्त्व नहीं देते; इस मान्यता के साथ बढ़ना कि वयस्कों द्वारा दी गई दिशा या मार्ग दर्शन-व्यक्तिगत आजादी पर हमला हो तथा मानो शिक्षा के विचार का सरोकार केवल वर्तमान तथा भविष्य हो, जिसका अर्थ यह हो कि अतीत के साथ परिचय की शिक्षा में कोई भूमिका ही न हो।

उन्होंने इस तरह की शिक्षा के प्रभावों का वर्णन इस प्रकार किया, ‘ऊर्जा का अपव्यय होता है और व्यक्ति मूढ़ बन जाता है। प्रत्येक (स्कूली) अनुभव जीवन्त, भावोत्पादक तथा “रोचक” हो सकता है फिर भी उनका परस्पर जुड़ा न होना कृत्रिम रूप से बिखरे, विघटित, विकेन्द्राभिसारी (सेंट्रीफ्यूगल) आदतों को जन्म दे सकता है।’ अन्य

आलोचकों ने इस तथ्य की ओर ध्यान आकर्षित किया है कि ऐसे स्कूलों में प्रत्यक्ष सत्ता का स्थान शिक्षकों का गुप्त संचालन (कन्सील्ड मैनिप्युलेशन) ले सकता है। बच्चे यह सोचने लगते हैं कि शिक्षक उनसे जो करवा रहा है वही तो वे हमेशा से करना चाहते थे - यही तो जनोत्तेजक (डेमगोग) का आदर्श होता है। साफ-साफ दिए गए निर्देशों की आलोचना संभव होती है। सर्वाधिक सत्तावादी समाजों तक में जो अधिक साहसी और जोखिम प्रिय लोग होते हैं, वे इसकी चेष्टा करते हैं; गुप्त संचालन से निपटना कहीं अधिक कठिन होता है।

किन्तु कोई कारण नहीं कि ऐसे सत्तावादी स्कूलों, जो पूरी तरह औपचारिक शिक्षण को समर्पित हों और आलोचनात्मक शक्ति को अवरुद्ध करते हों, के विरोध के चलते हम ऐसे स्कूलों की पैरवी करें जिनमें निर्देश का कोई स्थान ही न हो। हम इस बात पर सहमत हो लें कि एक शिक्षित व्यक्ति जो महज एक परिष्कृत व्यक्ति से भिन्न है - को स्वतंत्र, आलोचनात्मक, समस्याओं का सामना करने में समर्थ होना ही चाहिए। परन्तु ये गुण आवश्यक होने के बावजूद पर्याप्त नहीं हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के कई क्रांतिकारी कामगारों में भी ये गुण प्रचुर मात्रा में थे। शिक्षित होने के लिए व्यक्ति को महान मानवीय आलोचनात्मक चिन्तन परंपराओं अर्थात् विज्ञान, इतिहास, साहित्य, दर्शन, प्रौद्योगिकी की परंपराओं में भागीदारी में सक्षम भी होना होता है। और इन परंपराओं में भागीदारी कर पाने के लिए व्यक्ति को पहले निर्देशन पाना होता है, किसी अनुशासन को सीखना पड़ता है। रिचर्ड पीटर्स की भाषा में कहें तो उसे ‘दीक्षित’ होना पड़ता है।

मैंने “आलोच्य-रचनात्मक” चिन्तन जुमले का प्रयोग इसके प्रति स्नेहवश नहीं किया है। बल्कि इसलिए किया है क्योंकि ‘आलोचनात्मक चिन्तन’ यह सुझा सकता है कि इसका अर्थ आपत्ति उठा पाने की क्षमता से अधिक कुछ नहीं है। जिस प्रकार का आलोचनात्मक चिन्तन महान परंपराएं दर्शाती हैं उनमें कल्पनाशीलता व आलोचना एक ही प्रकार के चिन्तन में संयुक्त होती हैं। साहित्य, विज्ञान, इतिहास, दर्शन या प्रौद्योगिकी में कल्पनाशीलता का मुक्त प्रवाह आलोचना से नियंत्रित होता है और आलोचनाएं वस्तुओं को देखने के नए तरीकों में रूपान्तरित होती हैं। ऐसा नहीं है कि कल्पनाशीलता का मुक्त अभ्यास या आपत्तियां उठाना अपने-आपमें घृणित हो। कल्पनाशीलता नए विचार सुझा सकती है और आपत्तियां उनकी आवश्यकता दिखा सकती हैं। परन्तु शिक्षा निश्चित रूप से इन दोनों का संमिश्रण विकसित करने का प्रयास करती है। शिक्षाविद की रुचि ऐसी आलोचनात्मक चर्चा को प्रोत्साहित करने में है जो महज आपत्तियां उठाने से भिन्न हो और चर्चा कल्पनाशीलता का ही अभ्यास है।

तो इस कथा में निर्देश कहां से घुस आता है ? आलोच्य-रचनात्मक चिन्तन के एक सरल से दृष्टांत पर विचार करें, शतरंज का खेल खेलना। खेलने के लिए हमें यह सिखाया जाना जरूरी है कि बोर्ड पर मोहरों को कैसे रखा जाता है। हरेक मोहरा कैसी चाल चल सकता है; किन स्थितियों में विपक्षी खिलाड़ी के मोहरे बोर्ड से हटाए जा सकते हैं; कि राजा को लिया नहीं जा सकता; पर किले को लिया जा सकता है आदि-आदि। ये सारे नियम हमें कोई निर्देशक सिखा सकता है या हम खुद किसी किताब में उन्हें पढ़ सकते हैं। पर दोनों ही मामलों में उन्हें सीखना तो पड़ता ही है। हम कितने ही चतुर क्यों न हों हम स्वतः ही उनको जान नहीं सकते। अगर हमारे सामने शतरंज का एक बोर्ड और उसके मोहरे रख दिए जाएं और यह बता दिया जाए कि खेलते वक्त उनका कैसे उपयोग किया जाता है, तो भी हम यह समझ नहीं सकते कि शतरंज खेला कैसे जाती है।

नियमों के साथ किसी भी खेल में कुछ उपयोगी पैतरे भी होते हैं, बार-बार उपस्थित होने वाली स्थितियों से निपटने के तरीके होते हैं। यों शतरंज में भी आखिरी बाजी को खेलने के कुछ रूटीन तरीके होते हैं। खेल के एक बिन्दु पर पहुंचने के बाद जो खिलाड़ी इन तरीकों को जानता है वह यह भी समझ जाता है कि वह हार नहीं सकता बशर्ते वह असावधान न हो जाए। इन तरीकों तथा नियमों में अंतर करने के लिए हम उन्हें 'झांसी' का नाम दे दें। ये झांसे यादृच्छिक नहीं होते। हम यह दिखा भी सकते हैं कि अगर कोई खिलाड़ी उन पर ध्यान न दे तो वह शर्तिया हारेगा और अगर वह उन पर ध्यान देगा तो शर्तिया जीतेगा। पर हमें उनके उपयोग के लिए प्रशिक्षित, निर्देशित किया जा सकता है। हम खुद को खेल की किन्हीं विशेष चरम स्थितियों से निपटने के लिए दुनिया के श्रेष्ठतम खिलाड़ियों के समान बना सकते हैं। उस अर्थ में जिस अर्थ में हमें मध्य खेल को खेलने में श्रेष्ठतम खिलाड़ियों के समान प्रशिक्षित नहीं किया जा सकता। बेशक एक समय में इन 'झांसी' को भी आलोच्य-रचनात्मक चिन्तन द्वारा ही गढ़ा गया होगा, अब वे रूटीन के स्तर पर उतर आए हैं। इन्हें न सीखना और न अपनाना बेवकूफी की इन्तहा ही होगा।

महान परंपराएं खेल नहीं हैं परन्तु वे कई पक्षों में खेलों के समान होती हैं। उनमें कुछ घटक यादृच्छिक भी होते हैं, जो कुछ झांसी को उपजाते हैं। उदाहरण के लिए, अब्बल तो वे पढ़ने और लिखने की क्षमता पर निर्भर होते हैं। यह पूर्णतः यादृच्छिक नियम है कि जिस शब्द को कैट (बिल्ली) कहा जाए उसका प्रतिनिधित्व अंग्रेजी में एक खास क्रम में आई आड़ी-तिरछी लकीरों से होता है और चीनी भाषा में लकीरों के भिन्न प्रकार के आयोजन द्वारा। कोई कितना भी चतुर क्यों न हो, वह चीनी भाषा को सुनकर, यह स्वयं नहीं बूझ पाएगा

कि उसे उसी भाषा में लिखा कैसे जाए ? चीनी भाषा को पढ़ने और लिखने के लिए हमें वाचिक तथा लिखित शब्दों के बीच इस नितांत यादृच्छिक संबंध को सीखना ही होगा। भाषाओं में अंतर होता है : इतालवी के कुछ शब्दों की वर्तनी आने पर हम किसी भी इतालवी शब्द की वर्तनी अपनी सूझबूझ से बना सकते हैं; अंग्रेजी के कुछ शब्दों की वर्तनी सीखकर हम उसके कई शब्दों की वर्तनी का अनुमान लगा सकते हैं, पर अन्य सभी शब्दों की नहीं; चीनी भाषा के मामले में कई भावचित्र (आइडिओग्राम) ऐसे हैं जिन्हें हमें अलग-अलग ही सीखना पड़ता है। परन्तु प्रत्येक भाषा में प्रारंभ बिन्दू यादृच्छिक ही होता है।

इसी प्रकार रसायनशास्त्र के छात्र को भी एक नई भाषा सीखनी पड़ती है। उसे जानना पड़ता है कि 'इक', 'अस' तथा 'एट' जैसे प्रत्यय जो 'नाइट्रिक', 'नाइट्रस' तथा 'नाइट्रेट' जैसे शब्दों में आते हैं उनका महत्त्व क्या है। H₂O जैसे संकेतों को या किसी अणु-डायग्राम को कैसे पढ़ा जाए। इसके अलावा पूर्ववर्ती वैज्ञानिकों की भारी सफलताओं के कारण छात्र अब उस स्थिति में हैं कि वे कई 'झांसी' का उपयोग कर सकें - गैसों को एकत्रित करने के किसी घोल में कौनसी चीजें मिली हैं यह जानने के, घोल में उनका प्रतिशत क्या है, आदि निकाल लेने के 'झांसे'। एक बुद्धिमान छात्र को इन गुरों को काम में लेने के लिए उतनी ही अच्छी तरह प्रशिक्षित किया जा सकता है जितनी अच्छी तरह कोई महान वैज्ञानिक उनका उपयोग करता है। इसी प्रकार वैज्ञानिकों ने महत्तर स्तर की खोजें भी की हैं। उन्होंने नियमों का आविष्कार किया है। यह बेवकूफी ही होगी अगर हम यह सुनिश्चित न करें कि छात्र इनमें से कम से कम कुछ से परिचित हों और स्थिति विशेष में उन्हें लागू कर सकें।

हालाकि विज्ञान आलोच्य-रचनात्मक चिन्तन का सबसे प्रभावशाली उदाहरण है। इसे अक्सर कुछ इस प्रकार पढ़ाया जाता है कि इसके छात्र अपनी कल्पनाशीलता या आलोचनात्मक शक्तियों का कतई प्रयोग न करें। दुखद है कि इसे शैक्षिक नियम सा ही मान लिया गया है कि सभी विषयों का रुझान निर्देशात्मक स्थिति की ओर है। कोई भी विषय एक शैक्षणिक उपकरण के रूप में उससे रखी गई उम्मीदों पर तब खरा नहीं उतारता जब उसे पाठ्यचर्या का हिस्सा बना लिया जाता है। यह महज दुर्भाग्यपूर्ण दुर्घटना मात्र नहीं, न ही यह किसी साजिश का नतीजा है। यह उस व्यापक निर्देशात्मक घटक से उपजता है जो विकसित विषयों में तथा कक्षा कक्ष की उन परिस्थितियों में अंतर्निहित हो जो निर्देशात्मक विधियों के पक्ष में होती हैं।

जो समस्या हमारे समक्ष है उसे इस प्रकार रखा जा सकता है : हमारी स्कूली प्रणालियों में निर्देश एक बड़ी भूमिका अदा करते हैं। महान

परंपराओं में भागीदारी करने में छात्रों की सहायता करने का दूसरा कोई उपाय है ही नहीं। उन्हें स्वयं को यादृच्छिक नियमों से समझौता करना और उनके साथ काम करना सीखना ही पड़ता है। उन्हें कई तरह के ज्ञान या गुर सीखने पड़ते हैं। अब तक जो ज्ञान संग्रहित हो चुका है, उसको उन्हें जान लेना पड़ता है। केवल तब ही वे उस स्थिति में स्वयं को ला सकते हैं जहां वे फलदाई आलोचना कर सकें और उपयोगी विकल्प सुझा सकें। अगर समूची स्कूली शिक्षा को समस्या-समाधान का प्रशिक्षण बनाने की चेष्टा की जाए, जैसी प्रगतिशीलतावादियों की उम्मीद थी, तो फिर ऐसे छात्रों का उत्पादन होगा जिनकी महान परंपराओं की प्रमुख समस्याओं से निपटने के लिए कोई तैयारी न हो। तो फिर वह कौनसा बिन्दु है जहां बालक को आलोचनात्मक बनना सिखाया जा सकता है ? इसका एक संभव उत्तर यह है कि इसका समय शिक्षण प्रक्रिया के बाद के चरण में हो और छात्रों के एक चयनित समूह को ही यह सिखाया जाए। जिस सीमा तक प्लेटो ने आलोचना की अनुमति दी थी, यही उनका जवाब था। किसी आदर्श राज्य में अधिसंख्यक नागरिकों को निर्देशित किया जाना चाहिए। उन्हें यह सिखाया जाना चाहिए कि वे नियमों का अनुपालन करें। व्यापक सिद्धांतों को सामान्य मामलों पर कैसे लागू किया जाए। पर उन्हें यह महसूस करने की अनुमति तक नहीं दी जानी चाहिए कि उन नियमों के संभाव्य विकल्प भी हैं कि उनकी (नियमों की) आलोचना की जा सकती है और उनके स्थान पर कुछ भिन्न नियम लाए जा सकते हैं। केवल सभ्रातों की स्वाल्प संख्या ही नियमों की तार्किक समझ तक पहुंच सकती है, ऐसी समझ जो स्थापित नियमों की आलोचना द्वारा विकसित हुई हो। इसके विपरीत अगर हम प्लेटो की एपॉलजी पर भरोसा कर सकें, तो सुकरात की मान्यता थी कि “जिस जीवन को जांचा न गया हो, उसे जीना ही निरर्थक है”; निर्देशन को तर्कवादियों (सोफिस्टों) पर छोड़ना चाहिए, शिक्षक तो स्वभावतः ही शांति को भंग करने वाला होता है।

हमारे समुदायों की आमतौर से स्वीकृत मान्यता भी अफलातूनी (प्लेटो की) मान्यता की तरह ही है। पूर्वधारणा यह है कि छात्रों को विश्वविद्यालयों में ही आलोचनात्मक बनना सिखाया जा सकता है। यह भी सभी नहीं स्वीकारते कि विश्वविद्यालय के स्तर पर भी छात्रों को अपने समुदायों के स्वीकृत विश्वासों तथा संस्थाओं के विषय में आलोचनात्मक चिन्तन करने को प्रोत्साहित किया जाना चाहिए। कई बार यह भी सुझाया जाता है कि ऐसा आलोचनात्मक चिन्तन केवल “परिपक्व मस्तिष्कों” तक सीमित होना चाहिए। इसके अलावा जैसे-जैसे अबोध नियमों की मात्रा बढ़ती जाती है आलोचनात्मक चर्चा को स्थगित करने का रुझान भी बढ़ता है; वास्तविक समस्याओं को संबोधित करने को स्नातकोत्तर स्तर तक

स्थगित कर दिया जाता है। विश्वविद्यालय के शिक्षक, खासकर वैज्ञानिक व पेशेवर विषयों के शिक्षक आपको कभी यह कह सकते हैं कि उनके पास अपने छात्रों में स्वतंत्र चिन्तन को या स्वतंत्र पठन तक के प्रोत्साहित करने का “समय नहीं है। परन्तु कई लोग यह स्वीकारते हैं, फिर चाहे कितनी भी अनिच्छा से ही क्यों न स्वीकारते हों कि विश्वविद्यालयों में स्वतंत्र आलोचनात्मक चिन्तन की अनुमति दी जा सकती है। पर वे भी यह तर्क करेंगे कि निचले स्तरों पर इसका कोई स्थान नहीं है।

अब्वल तो कई बार यह सुझाया जाता है कि अधिकांश लोगों को शिक्षित ही नहीं किया जा सकता। वे समस्याओं को संबोधित करने, उनके समाधान निकालने के काम में भागीदारी कर ही नहीं सकते। यह सुझाव सही है अथवा नहीं यह तय करने का कोई अनुभव रहित (एंप्रायरी) तरीका नहीं है। संभव है कि वास्तव में इसे तय करने का कोई उपाय ही न हो। हममें से ज्यादातर लोग गतिविधि के किसी क्षेत्र का उल्लेख कर सकते हैं, जिनमें हमने कमोबेश कुछ प्रभावी प्रक्रियाएं सीखी हैं, पर उस बिन्दू से आगे बढ़े बिना ही। परन्तु अगर हमें बेहतर शिक्षण दिया जाता तो हम ऐसा कर सकते थे लेकिन इस मसले पर हम आत्म-विश्वास से कुछ कह नहीं सकते।

सच तो यह है कि इस मसले पर हमारा दृष्टिकोण हमारी सामाजिक अभिवृत्तियों द्वारा निर्धारित होता है। जो यह मानते हैं कि एक छोटे अल्पसंख्यक समूह के सिवा, शेष लोगों को स्थापित सत्ता की आज्ञाओं का पालन करना सही तथा उचित है, वे यह विश्वास करने को भी तैयार रहते हैं कि अधिकतर इंसान इसके अलावा कुछ करने के काबिल भी नहीं हैं। इसके विपरीत लोकतंत्र में विश्वास करने वालों की आस्था यह है कि अधिकांश लोग किसी न किसी स्तर पर उन चर्चाओं में शिरकत कर सकते हैं जो नियमों में परिवर्तन तक ले जाती हैं। अर्थात् उनमें महज नियम की अनुपालना से भिन्न आलोचनात्मक चिन्तन की क्षमता भी है। परंतु, वे भी इस विश्वास के प्रति कटिबद्ध नहीं हैं कि सभी लोग मौजूदा नियमों अथवा स्वीकृत प्राक्कल्पनाओं संबंधी प्रत्येक आलोचनात्मक चर्चा में समान रूप से भागीदारी करने की क्षमता रखते हैं।

यह बिन्दु बुनियादी है। इसका संबंध इस बात से है कि आलोच्य-रचनात्मक चिन्तन, उस अर्थ में एक विषय नहीं है जिस अर्थ में रसायनशास्त्र या तकनीकी चित्र बनाना या इतिहास होता है। उसे किसी भी विषय को पढ़ते समय पोषित या हतोत्साहित किया जा सकता है। फिर चाहे कुछ विषय कम से कम प्रारंभिक स्तर पर अन्य विषयों की तुलना में ऐसा कर पाने के अधिक अवसर क्यों न उपलब्ध करवाते हों। कोई छात्र इसे अनुवादक के रूप में दर्शा सकता है पर एक गणितज्ञ के रूप में नहीं; एक भूदृश्य बागवान

के रूप में दर्शा सकता है पर एक इतिहासज्ञ के रूप में नहीं। यह संभावना हमेशा रहती है कि किसी नए विषय में या किसी पुराने विषय के किसी नए क्षेत्र में कोई बालक ऐसी आलोचनात्मक क्षमता विकसित कर ले जिसकी पहले कल्पना तक न की गई हो। यह भी हो सकता है - यद्यपि इस बिन्दु का कोई निर्णयात्मक प्रमाण मुझे ज्ञात नहीं है कि मस्तिष्क की इस प्रकार पोषित की गई अभिवृत्ति, मान लें कि वह बड़ईगिरी की स्वीकृत तकनीकों में हो - अन्य प्रकार की गतिविधियां भी कुछ हद तक आ सकेगी।

प्लेटो का तो निश्चित रूप से यह मानना था; अगर व्यक्ति को किसी भी प्रकार का नवाचार करने की अनुमति दी जाए फिर चाहे वह संगीत जैसी निरीह गतिविधि में ही क्यों न हो - राज्य का समूचा ढांचा ही, प्लेटो की दृष्टि में खतरे में पड़ जाएगा। सर्वसत्तावादी राज्य जो इसी सिद्धांत पर कार्य करते हैं कला, विशुद्ध विज्ञान, नैतिक आचरण आदि में पूर्णतः रूढ़िवादी होते हैं। यह मानने के अच्छे कारण हैं कि सोवियतों ने अन्य नहीं परन्तु तकनीकी नवाचारों को लाईसेंसशुदा बनाने का जो प्रयास किया था वह बिखर गया था। परन्तु यह सुझाना बेवकूफी है कि व्यक्ति या तो सभी चीजों पर आलोचनात्मक चिन्तन करे या फिर किसी पर भी न करे। परन्तु यह सुझाना बेवकूफी नहीं है कि जब आलोचना अभिवृत्ति एक बार उकसा दी जाती है तो वह समस्याओं के उस विशेष समूह से परे भी बढ़ सकती है जिसने पहले पहल उसे उकसाया था। शिक्षाविद की समस्या यह मान लेने की वृत्ति को तोड़ना है कि जो कुछ सत्ता द्वारा स्थापित कर दिया गया हो उसे या तो जस का तस स्वीकारा जाए या फिर उससे कन्नी काट ली जाए। संभव है कि बालक के प्रारंभिक प्रशिक्षण ने उसे इसी वृत्ति की ओर मोड़ा हो। जब शिक्षक यह कर ले, जब वह बालक में किसी भी सत्ता के प्रति आलोचनात्मक दृष्टिकोण जगा दे, तो वह एक महत्त्वपूर्ण कदम उठा चुका होगा। बहरहाल, अगर शिक्षक किसी एक या दूसरे बालक को आलोचनात्मक बनाने में पूर्णतः असफल भी रहता है तो भी विश्वविद्यालय स्तर पर आलोचना को सीमित करने की नीति अपनाना घातक होगा। अगर बालक को प्रारंभिक बाल्यावस्था से ही वह सब करना सिखाया गया है जो कुछ उसे कहा जाए, अगर उसे सवाल करने से हतोत्साहित किया गया है, सिवा उस स्थिति में जब वह जानकारी या निर्देश पाने के लिए प्रश्न कर रहा हो, तो वह उस स्थिति में लड़खड़ा जाएगा, जब उसे कहा जाए कि वह किसी मसले पर स्वयं निर्णय ले। जब वह ऐसी स्थिति में हो जहां सत्ताधिकारी ही असहमत हों। ऑस्ट्रेलिया के अवलोकन हमारी अपेक्षाओं की पुष्टि करते हैं। वहां पाया गया कि जिन स्कूलों में औपचारिक निर्देश पर बल दिया जाता है उसके बच्चे विश्वविद्यालय की अधिक खुली परिस्थितियों से तालमेल बैठाने में कठिनाई अनुभव करते हैं।

तो फिर इन दो आवश्यकताओं में मेल कैसे बिठाया जाए ? इनमें पहली आवश्यकता है- ज्ञान के भंडार का निर्माण, कुछ ऐसी आदतों का निर्माण, जिसमें आलोचना गायब हो सकती है। दूसरी आवश्यकता है प्रारंभिक चरण से ही बच्चों को आलोचनात्मक चर्चा में भागीदारी करने से परिचित करवाने की जरूरत। इस प्रकार जो अंतर अभिव्यक्त किया गया है वह सुनने में नितान्त संपूर्ण लगता है। परन्तु दरअसल शिक्षक सिर्फ कोई दृढ़ आदत ही डाले या मात्र कुछ स्थिर विश्वासों को ही छात्र में स्थापित कर दे, तो वह एक निर्देश देने वाले के रूप में भी असफल ही होगा। उसका मुख्य उद्देश्य- अगर वह अपने धंधे को जरा भी समझता है तो एक कौशल विकसित करने में बालक की मदद करना है। बार-बार अभ्यास करवा कर कोई वाहन चालन सिखाने वाला निर्देशक छात्र को एक स्थिर खड़ी गाड़ी में बैठना, उसके गियर बदलना सिखा सकता है। परन्तु आदतों का ऐसा मशीनी विकास अपने-आपमें वाहन चालन सिखाना नहीं है। न ही प्रारंभिक चरण के बाद उसका कोई उपयोग ही है। इसी प्रकार अगर कोई बच्चा शरीर के विभिन्न अंगों के अंग्रेजी नामों के फ्रांसीसी रूप रट ले या अनियमित क्रियापदों का अजीबो-गरीब आचरण रट ले, तो इसका लाभ उसे केवल तब ही मिलेगा जब वह फ्रेंच भाषा को बोलने, पढ़ने और लिखने की प्रक्रिया के दौरान ऐसा कर रहा हो। हैलोजीन की विशेषताओं को सीखना किसी छात्र के लिए तब बेमानी ही होगा जब तक इससे उसे वैज्ञानिक बनने का क्या अर्थ होता, यह भी समझ न आए।

किसी कौशल का उपयोग कर पाना, अनियमित क्रियापदों की कंठस्थ सूची के सुना डालने से अधिक होता है। इसमें चिन्तन करना पड़ता है। नियमों की आलोचना नहीं तो कम से कम उनको उन परिस्थितियों में लागू तो करना ही पड़ता है, जिनकी पहले से भविष्यवाणी न की जा सके (इस प्रकार के चिन्तन को हम 'बुद्धिमान' कह सकते हैं, उस शब्द के साधारण उपयोग के प्रति असम्मान जताए बिना)। फ्रांसीसी भाषा बोलने वाले को यह पता नहीं होता कि उसे कौन-सा वाक्य कब बोलना पड़ सकता है। जबकि एक बच्चे को मालूम होता है कि शिक्षक पहले से तयशुदा सूची से शब्द दोहराने को कहेगा। साथ ही अपने कौशल के उपयोग के दौरान ही लोग मान्य प्रक्रिया की खामियों को भी खोज पाते हैं। अगर कौशल को सही तरीके से ऐसे वातावरण में सिखाया जाए जिसमें आलोचना का स्वागत हो और प्रक्रियाओं को सुधारने की संभावना हो तो यह खोज छात्र में असहायता का भाव नहीं जाएगी। न शिक्षक के प्रति क्रोध तथा उसकी सत्ता का अस्वीकार ही जगाएगी। बल्कि इससे वैकल्पिक प्रक्रिया को तलाशने का प्रयास ही प्रोत्साहित होगा।

तो इस हद तक स्कूल महान परंपराओं के दायरे में रटने के बदले कौशलों के अभ्यास पर बल देते हैं। आदतों के विकास के बदले बुद्धिमानी के उपयोग पर बल देते हैं। अर्थात् स्कूल कुछ हद तक आलोच्य-रचनात्मक चिन्तन के लिए राह तैयार करते हैं। परन्तु इस बात पर बहुत कुछ निर्भर करता है कि किसी कौशल को सिखाया कैसे जाता है। जो सिद्धांत इसमें अत्यावश्यक लगता है वह यह है कि जब भी संभव हो और जितनी जल्दी संभव हो, अभ्यासों के स्थान पर समस्याएं रखी जाएं। समस्या से मेरा मतलब है एक ऐसी स्थिति जिसमें छात्र तत्काल यह तय न कर सके कि कौन-सा नियम लागू करना चाहिए या वह कैसे लागू होता है, बजाय उस अभ्यास के जहां यह फौरन साफ नजर आता हो। उदाहरण के लिए, अंग्रेजी का कोई अनुच्छेद फ्रांसीसी भाषा में अनुदित करने को कहना, कुछ समस्याओं को रखना है, जिसमें कल्पनाशील अंतर्दृष्टि के उपयोग के साथ तथ्यों को भी जांचना होगा, जो आलोच्य-रचनात्मक चिन्तन की विशेषता है। परन्तु अगर छात्रों को वाक्यों का फ्रांसीसी में अनुवाद करने के कहा जाए तो उसे पहले ही यह बता दिया जाए कि उसे प्रत्येक वाक्य में संभावनात्मक क्रिया विशेषण का उपयोग करना है। यहां हम यह भी मानकर चल रहे हैं कि वाक्यों में कोई नवीनता नहीं होगी, तो फिर यह मात्र अभ्यास ही होगा। जब बालक को स्वयं से यह पूछना पड़े कि वाक्य में दिए गए शब्दों के बीच संबंध क्रम-परिवर्तन या संमिश्रण है तो वह एक समस्या का सामना करता है। जब उसे कुछ संभव क्रम-परिवर्तन में से किसी एक को चुनने को कहा जाए तो यह महज एक अभ्यास होता। किसी बच्चे को दिया गया प्रश्न एक अभ्यास है या एक समस्या इस बात पर भी निर्भर करेगा कि उसने अब तक क्या सीख लिया है। जो प्रश्न समस्या रखते से लगते हैं- उदाहरण के लिए, यह प्रश्न 'हैमलेट ने ओफिलिया का इतना जबरदस्त विरोध क्यों किया ?' वे भी अभ्यास से अधिक कुछ नहीं होते। क्योंकि उनका मकसद महज यह जानना भी हो सकता है कि कक्षा में जो पढ़ाया गया था वह छात्र को याद है भी या नहीं। किसी गणित शिक्षक के लिए जो प्रश्न अभ्यास मात्र हों वे छात्रों के लिए समस्या भी हो सकते हैं।

जब हमारे सामने कोई समस्या होती है, अर्थात् ऐसी परिस्थिति जिसमें हमें फौरन यह समझ न आए कि हमें किस ओर मुड़ना है, तब हम उसका समाधान किसी से सलाह लेकर या किसी पुस्तक में उसे देखकर भी कर सकते हैं। इस तथ्य को नकारना, स्वतंत्र रूप से समस्या से निपटने पर बल देना बेवकूफी होगी। सच तो यह है कि स्कूल में छात्रों द्वारा सीखे जाने वाले कौशलों में सबसे स्थाई मूल्य यही सीखने में है कि वह कब और कहां और कैसे सूचनाएं देखे। परन्तु अधिकांश स्कूलों के बारे में यह कहा ही नहीं जा सकता कि वे इस कौशल पर ध्यान केन्द्रित करते हैं। बल्कि इसके विपरीत

बहुत कम छात्रों में ही स्कूल छोड़ने या विश्वविद्यालय छोड़ने के बाद "सूचना निकाल पाने" का वास्तविक कौशल होता है।

बेशक यह कौशल महत्वपूर्ण है, फिर भी हम अपनी सारी समस्याओं का समाधान पुस्तकों में उत्तर ढूंढकर नहीं कर सकते। समस्याओं को दो व्यापक श्रेणियों में रखा जा सकता है। एक तो वे जिनके जवाब शिक्षकों को पता होते हैं, पर छात्रों को नहीं और दूसरी वे जिनके उत्तर शिक्षकों और छात्रों दोनों के पास नहीं होते (यहां यह भी जोड़ना चाहिए कि सामान्यतः छात्रों को समस्या के अस्तित्व की जानकारी तक नहीं होती। शिक्षक के कामों में एक यह भी है कि वह अपने छात्रों को उलझन में डालें)। ज्यादातर समय शिक्षक अपने छात्रों के समक्ष ऐसी समस्या रखता है जिसका उत्तर दरअसल पहले से ज्ञात हो। उसके छात्र इस वर्ग की समस्याओं से निपटने की नियमित विधि का अभ्यास करने के लिए ही आते हैं। अर्थात् वे स्वीकृत प्रक्रियाओं का बुद्धिमान उपयोग करना सीखते हैं। परन्तु शिक्षक को यथासंभव ऐसी समस्याएं सामने रखने पर विशेष बल देना चाहिए जिनके उत्तर ज्ञात न हों या जो विवादास्पद हों। केवल इसी प्रकार वह छात्रों को भविष्य के लिए तैयार कर सकता है।

परन्तु व्यवहार में होता यह है कि कई शिक्षक जानबूझ कर सभी विवादास्पद मुद्दों से कन्नी काटते हैं। ऐसा आंशिक रूप से तो वे इसलिए करते हैं क्योंकि उन्हें लगता है कि अगर वे छात्रों को उलझन में डाल दें और उसे सुलझाएं नहीं तो वे पढ़ा ही नहीं रहे हैं और अंशतः इसलिए क्योंकि उनमें से कई सत्ता का प्रतिनिधित्व करते हैं, अतः यह मानते हैं कि उलझन में डालना छात्रों के लिए खराब है। ऐसा करते समय वे यह भूल जाते हैं कि स्कूल के बाहर के अनुभव वैसे भी छात्रों को उलझन में डालते हैं। साथ ही विवादास्पद मुद्दों को न उठाना सबके लिए अधिक सुरक्षित और आरामदेह होता है (यह आश्चर्यजनक है कि किसी साधारण-सी कक्षा में ऐसे मुद्दों की कितनी विविधता होती है)। सच्चाई तो यह है कि छात्र अगर स्कूल छोड़ते समय उलझे हुए न हों तो शिक्षाविदों के रूप में शिक्षक असफल रहे हैं, फिर चाहे वे निर्देश देने वालों के रूप में कितने भी सफल क्यों न रहे हों।

फिर भी शिक्षक यह नहीं चाहेगा कि उसके छात्र केवल उलझनों से ही घिरे रहें, हालांकि वह यह जरूर सिखाएगा कि उलझन में पड़ना अपने-आपमें एक सद्गुण भी हो सकता है। वह उम्मीद करेगा कि वह छात्रों को यह सिखा सके कि जो सवाल उन्हें उलझाते हैं, उन पर चर्चा कैसे की जाए, उनके समाधान में किस प्रकार के प्रमाण प्रासंगिक हैं। साहित्य तथा इतिहास की कक्षाएं विवादास्पद मुद्दों की चर्चा में खासतौर से मूल्यवान होती हैं। आर. एस. पीटर्स ने हाल ही में यह तर्क किया था कि "इतिहास तथा साहित्य जैसे अनुशासन

तब भ्रष्ट और विकृत हो जाते हैं अगर उनका 'आलोचनात्मक चिन्तन' विकसित करने के सायास उपयोग किया जाए।" मुझे लगता है कि जो बात उनके दिमाग में रही होगी वह यह है कि इतिहास तथा साहित्य अध्ययन को किसी दूसरी वस्तु को हासिल करने के लिए, उदाहरण के लिए 'आलोचनात्मक चिन्तन' के कौशल को पाने का, माध्यम नहीं बनाना चाहिए। परन्तु सच्चाई यह है कि इतिहास और साहित्य की कक्षाएं शिक्षक को ऐसे अवसर उपलब्ध करवाती हैं जिनमें वह कई प्रकार की मानवीय गतिविधियों के साथ साहित्य तथा इतिहास पर भी आलोचनात्मक चर्चाएं कर सके। यह कोई नहीं चाहेगा कि साहित्य या इतिहास के सारे पाठ सिर्फ ऐसी ही चर्चाओं में बदल जाएं। परन्तु इतिहास तथा साहित्य के अध्ययन को मानवीय संबंधों की समझ से पृथक रखना भी उतनी ही बड़ी भूल होगी।

उदाहरण के लिए, बिलकुल साधारण बच्चे भी इस बात के प्रति सजग होंगे कि शेक्सपियर के नाटक कुछ अर्थों में अपूर्ण हैं। जब वे चारों ओर से, खासकर अपने शिक्षकों से, शेक्सपियर की प्रतिभा की प्रशंसा सुनते हैं तो संभव है कि वे इस निष्कर्ष पर पहुंचें कि ऐसी प्रतिभा उनके लिए नहीं है या कि शिक्षा एक छल-प्रपंच है या फिर वे सिर्फ अपने कंधे उचकाकर यह तय कर सकते हैं कि, यह भी एक और ऐसी चीज है जिसे पाठ के रूप में याद कर लिया और परीक्षा में दोहरा दिया जाए। पर कोई कारण नहीं कि छात्रों को शेक्सपियर की कठोर आलोचना की अनुमति न दी जाए। उन्हें अपना यह मत प्रस्तुत न करने दिया जाए कि शेक्सपियर के नाटक कई बढ़िया दूरदर्शन नाटकों से घटिया हैं। इसी प्रकार की आलोचनात्मक चर्चा के माध्यम से ही छात्र वास्तव में शेक्सपियर की प्रतिभा को समझ सकेंगे, बजाय तोते के समान शेक्सपियर का गुणगान दोहरा देने के। अगर चर्चा के बाद वह इसे नहीं स्वीकारता तो कोई नुकसान नहीं होता क्योंकि वह तो पहले भी इसे नहीं मानता था, बस चुप रह जाता था। साथ ही इस चर्चा के दौरान वह न केवल शेक्सपियर के बारे में कई बातें जान पाएगा बल्कि साहित्य की आलोचनात्मक चर्चा के विषय में भी कई बातें सीखेगा। बेशक उससे यह मांग भी की जा सकती है कि वह प्रत्येक बिन्दु पर अपने मत के समर्थन में नाटकों से प्रमाण प्रस्तुत करे।

परन्तु शिक्षण के प्रारंभिक चरणों के बारे में क्या कहा जाए जब बालक कम बुद्धिमान होता है ? शुरुआती चरण से ही उसे या कम से कम अधिकांश बच्चों को - यह सिखाया जा सकता है कि किसी प्रश्न पर आलोचनात्मक चर्चा कैसे की जा सकती है। हममें से अधिकांश को दो प्रकार के शिक्षकों की याद होगी। एक तो वह जिसके लिए उनके विचारों, उनके निर्णयों, स्कूल के किसी नियम या

पाठ्यपुस्तक के किसी सिद्धांत की आलोचना एक नैतिक दुराचरण था जिससे वह नाराजगी तथा अनुशासनात्मक कार्यवाही द्वारा निपटता था। दूसरे शिक्षक के लिए जब तक स्थितियां असामान्य रूप से प्रतिकूल न हों ऐसी आलोचना तार्किक स्पष्टीकरण का अवसर देती थीं, जिसमें वह यह साफ स्वीकार भी करता था कि हर कोई नियम विशेष बिलकुल मनमाना है, अपने-आपमें अरक्षणीय है, हालांकि खेल के एक नियम के रूप में उसका औचित्य हो सकता है। (यहां "मेरे लिए टाई बांधना क्यों जरूरी है ?" की तुलना कक्षा में देर से आने की छूट मुझे क्यों न दी जाए ?" से करके देखें।) किसी भी शिक्षक को निर्देश देने पड़ते हैं, ऐसे नियम सिखाने पड़ते हैं जो कम से कम जिस संदर्भ में वह उन्हें यह सिखा रहा हो उसमें यादृच्छिक हों। एक शिक्षाविद और मत थोपने वाले में बुनियादी अंतर यह होता है कि मत थोपने वाला सभी नियमों को संभवतः खराब नियम नहीं मानकर उन्हें 'वस्तुओं की प्रकृति में अंतर्निहित मानता है।' वह जिसे तथ्य, एक सिद्धांत मानता है या जिस व्यक्ति या कार्य को प्रशंसनीय ठहराता है उसे वह तार्किक आलोचना के परे परिभाषित कर देता है। इसके विपरीत शिक्षाविद आलोचना का स्वागत करता है और यह स्वीकारने को तैयार रहता है कि उसे सारे जवाब हमेशा मालूम नहीं होते।

इस स्तर पर, स्वीकृत नियमों की आलोचनात्मक चर्चा बालक के प्रारंभिक जीवन में ही शुरू की जा सकती है। बाद में जब वह महान परंपराओं में प्रवेश शुरू करता है तो चर्चा का क्षेत्र विस्तृत होता है और विभिन्न प्रकार की चर्चाओं में अंतर भी उभरने लगता है। ऐसी आलोचनात्मक चर्चा शिक्षक के लिए झेंप का कारण भी बन सकती है। संभव है कि वह स्वयं उस नियम के औचित्य पर आश्वस्त न हो या फिर उसने कभी यह सोचा ही न हो कि उसका औचित्य भला क्या है। जो कोई भी अपने छात्रों को आलोचनात्मक बनना सिखाना शुरू करे उसे झेंपने की स्थिति के लिए हमेशा तैयार रहना चाहिए। उसे इस बात के लिए भी तैयार रहना चाहिए कि उसकी कक्षा, प्रधानाचार्य और अभिभावक उसे परेशान करेंगे। अगर वह छात्रों को आलोचनात्मक बनना सिखाना छोड़कर अपनी अंतरात्मा को शांत करने के कौशल में उन्हें प्रशिक्षित करने लगता है तो कोई आश्चर्य नहीं। परन्तु उसे इस बात पर कम से कम स्पष्ट होना चाहिए कि वह क्या कर रहा है और भी महत्वपूर्ण होगा यह साफ जान लेना कि वह क्या नहीं कर रहा है। ♦

भाषान्तर : पूर्वा कुशवाहा